

## जीव री दरकार

□ संजीव मिश्र

अभी कुछ दिन पहले ही शिक्षाविद् और सिस्टम्स विशेषज्ञ सुशील बाजपेयी अपने किसी आगामी व्याख्यान की रूपरेखा बता रहे थे। कहने लगे, “पहले तो मैं बचपन में आनन्द के महत्त्व के बारे में बताना चाहूंगा कि किसी के भी जीवन और व्यक्तित्व के लिए इस बात का कितना बड़ा महत्त्व है कि उसका बचपन कितना आनन्द से भरपूर था या कितना दमित और नीरस था। और आनन्द का भौतिक सुख-सुविधाओं से कोई संबंध नहीं है, यह समझना भी जरूरी है। अक्सर तमाम सुविधाओं में जीने वाले बच्चे का जीवन भी निषेधों और अलगाव से प्रताड़ित होता है।” और फिर मजाक ही में मुझसे बोले, “मैं चाहता हूं आप भी मेरे साथ रहें। मैं आपको प्रदर्शित करना चाहता हूं कि देखिए इस आदमी का बचपन इतने आनन्द से बीता है कि यह पैंतालीस साल का होकर भी उससे बाहर नहीं निकलना चाहता।”

मजाक में कही सुशील की यह बात मुझे ज्यादा गलत भी नहीं लगती। पिछले करीब बयालीस साल से मेरे सबसे आनन्ददायक क्षण वे रहे हैं जब मैं हमेशा की तरह कुछ ऐसा पढ़ रहा हूं जिसमें मेरा मन लग रहा है। बाल साहित्य के बारे में लिखने के लिए मुझे जरा भी याददाश्त पर जोर नहीं डालना पड़ रहा। मुझे अपनी पसंद-नापसंद के बारे में बताना भर है। जो मेरे ख्याल से एकदम वही है जो हमेशा से है।

बात शुरू तो दादी और नानी से ही होगी। दादी जी हमें आम तौर पर धार्मिक कथाएं सुनाती थीं। भागवत और रामायण की तमाम कथा और अंतर्कथाएं भी मुझे मूलतः अपनी दादी जी से मिलीं। दूसरी तरफ नानी जादूगरों, राजा-रानी-राजकुमारियों की जो कहानियां सुनाती थीं, वे बड़े होने पर पता चला कि - अरबी और योरपीय कथाएं थीं -सिन्ड्रेला, स्लीपिंग ब्यूटी, स्नोव्हाइट से लेकर

अलिफ लैला के किस्से तक। याद नहीं पर शायद मेरी सामान्य पढ़ी-लिखी नानी इतनी पढ़ी लिखी भी नहीं थी कि अंग्रेजी में उन्होंने इन्हें पढ़ा हो। निश्चय ही पुराने वक्तों में ये कथाएं हिन्दी में छपी रही होंगी या नानी ने भी किसी से इन्हें सुना होगा। इसके अलावा स्कूल में भी कुछ टीचर ऐसे थे जो बहुत मजेदार कहानियां सुनाते थे। सिन्दबाद और हातिमताई के पूरे किस्से मुझे अपनी पहली क्लास के अध्यापक हीराबल्लभ तिवाड़ी के सुनाए हुए याद हैं।

ये सारे लोग जब किस्सा सुनाते थे तो उनके हाव-भाव, आवाज के उतार-चढ़ाव जिन दृश्यों को मन में साकार करते थे उनके पासंग भी कोई भारतीय या अमेरिकी सिनेमा या टीवी कार्यक्रम देखने को मुझे नहीं मिला है। पढ़ना सीखने के काफी पहले ही कथा, कल्पना, मिथक और लोक मान्यताओं में यह अनूठा संस्कार और प्रशिक्षण मुझे, और शायद मेरी पीढ़ी के ज्यादातर लोगों को, मिल गया था।

जब अक्षर सीखे तो जाना कि कहने -सुनने का यह भी एक तरीका है। लिखना कुल मिलाकर कहना है, और पढ़ना जो है सुनना ही है। तो ये बहुत मजेदार तरीका था कहानी सुनने का। इसमें किसी दूसरे पर निर्भरता नहीं थी। न ही समय का बंधन कि शाम हो तो दादीजी कहानी सुनाने बैठें। सुबह-शाम जब चाहे किताब लेकर बैठ जाओ और कहानी सुनने लगे। दूसरी-तीसरी कक्षा तक आते-आते पराग, नंदन, मिलिन्द, राजाभैया, बालभारती, चंदामामा आदि पत्रिकाएं रोजमर्रा के जीवन का हिस्सा बन गईं।

घर में, और स्कूल में भी जिनसे कहानियां सुनीं उनके व्यक्तित्व अलग-अलग थे, आवाजें अलग-अलग थीं, शब्दावली और



उच्चारण में भी काफी भिन्नता थी, कहानियां तो अलग थीं ही। लेकिन उन सब में एक बात समान थी। वे सब हम सुनने वालों को भरपूर प्यार करते थे। उन्हें हमारी चिन्ता थी। वे हमें बहुत कुछ सिखाना चाहते थे। उन सबके अपने व्यक्तित्व और संस्कार थे जिनका श्रेष्ठतम वे हमें देना चाहते थे। वे हमें सिखाना तो चाहते थे लेकिन उससे कहीं बढ़कर वे हमें खुश देखना चाहते थे।

वे बात को सामान्य या सरल बनाने के बदले अच्छी तरह समझाने को अहमियत देते थे। कहानी सुनते-सुनते हम कभी भी बीच में पूछ लेते - 'तिलिस्म माने ?' या 'तपस्या क्या होती है'। और हमें विस्तार से समझा दिया जाता। यह भाषा और समझ का संस्कार था।

उन दिनों पत्रिकाओं में भी कुछ ऐसा ही लगता था। पूरी भाषा हमेशा समझ में नहीं आती थी। अक्सर शब्दों के मतलब बड़ों से पूछने पड़ते थे। लेकिन यह तो कहानी पढ़ने-सुनने का जरूरी हिस्सा हमेशा से था ही। कहानी के मजे में नए शब्दों को जानना भी तो शामिल होता है। पत्रिकाओं में लिखने वालों की भी अपनी आवाज थी, अपना अंदाज था, अपना व्यक्तित्व था। बड़े होने पर पता चला इतनी मजेदार कहानियां लिखने वाले अमृतलाल नागर, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर वगैरह बड़ों के लिए भी बड़ी-बड़ी किताबें लिखते हैं और पढ़ते ही याद हो जाने वाली मजेदार कविताएं लिखने वाले मस्तराम कपूर और मंगरूराम मिश्र असल में बड़े पत्रकार-विद्वान हैं।

ये लोग बच्चों के लिए बचकानी सरल कहानियां भर नहीं लिखते थे। इनकी कहानियों में जहां रोचक पात्र थे, हास्य था, मन को बांधने वाले वर्णन थे, वहीं वंचना भी थी, दुख भी था, असहायता भी थी, यहां तक कि मृत्यु भी थी। ये कहानियां जानवर, तितली, चिड़िया, फूल वगैरह की इकहरी बातें नहीं थीं जिनके अंत में कोई नसीहत लिखी हो। इनमें हर बात का एक कारण था। अगर कोई घोड़ा कहीं उड़ता है तो इसलिए नहीं कि उड़ने वाला पशु बच्चे की कल्पना को गुदगुदाएगा, बल्कि इसलिए कि उस कहानी में घोड़े के उड़ने या उड़ सकने से ही आगे का कथानक बन पाता है।

ये कहानियां-कविताएं हमें किसी भी सच्चाई से बचाती नहीं थीं बल्कि यथार्थ की पूरी और व्यापक समझ पैदा करने में, सच्चाई की बड़ी और पूरी तस्वीर देख सकने लायक बनाने में, इस बचपन में पढ़े हुए की भूमिका शायद सबसे बड़ी है।

लेकिन बाद में चीजें बदलने लगीं। धीमे-धीमे बच्चों की कहानियों और कविताओं की भाषा बचकानी होने लगी। उनके विषय बहुत ही सरल और एकसार होने लगे। समझने की बात ये है कि सरल और बालसुलभ बोली तो बच्चे को सहज प्राप्त हो चुकी है। उसकी नैसर्गिक जरूरत है विकास की। वह पढ़ने, सुनने

या सीखने जैसी दिमागी कार्रवाई में तभी रमेगा जब उसमें दिमाग के लिए कुछ नया करने को हो। लेकिन ऐसी कविता कहानी कोई तब लिखे जब लिखने वाला मन से, प्यार से बच्चों को कुछ सुनाने बैठे।

अभी तो बाल साहित्य के नाम पर अखबारों और अखबारी प्रकाशनों की बाल-पत्रिकाओं में जो लोग लिख रहे हैं, वे-साफगोई के लिए माफ कीजिए-या तो वहां नौकरी करने वाले पत्रकार हैं जो इसलिए लिख रहे हैं कि लिखना उनकी नौकरी है, या ऐसे लोग हैं जो रचना छपने के बाद मिलने वाले मामूली से पारिश्रमिक के जरूरतमंद हैं और या फिर ऐसे नए लेखक जो अपना नाम छपा देखने को लालायित हैं। ऐसे लेखक जो बच्चों की खातिर लिखना चाहते हैं, जिनका अपना कोई मुकम्मल व्यक्तित्व है और जिनमें बच्चों को कुछ सुनाने की ललक है, हिन्दी में बरसों से नजर नहीं आ रहे।

पिछले कुछ सालों में सामने आई ऐसी कृति जो बच्चों को लुभाए, उनकी कल्पना को उड़ान दे, उन्हें नए शब्द और मुहावरे सिखाए, कभी खुशी से भर दे, कभी उदासी से घेर दे, जो श्रेष्ठतम मानवीय मूल्य-स्वतंत्रता, समानता, करुणा और सह-अस्तित्व-सहज ही उनकी समझ का हिस्सा बना दे, मेरी नजर में एक ही आई है। वह भी अंग्रेजी में है - जे. के. रोलिंग की हैरी पॉटर की कथा। जो लोग सरल या कि आसान भाषा को बाल साहित्य का अनिवार्य तत्व मानते हैं, उनके लिए पॉटर की किताबों की भाषा एक सबक है। इसमें न केवल मुहावरेदार और अपने पूरे वैभव से सजी अंग्रेजी मौजूद है बल्कि लैटिन के मंत्र और नाम भी हर पन्ने पर मौजूद हैं। लेकिन अंग्रेजी पढ़ने वाला कोई बच्चा ऐसा नहीं है जिसने इस कारण से इसे छोड़ दिया हो।

इन सारी बातों से मुझे लगता है कि अच्छा बाल साहित्य तैयार करने का एक फार्मूला तो नहीं पर तरीका जरूर समझ में आ सकता है। पर उसे बताने के लिए भी एक किस्सा सुनाना बेहतर रहेगा।

कुछ साल पहले मैं अपनी पत्नी की नानी की बनाई हुई कबूली खाकर आनन्दित हो रहा था और निर्बाध प्रशंसा में व्यस्त था कि मेरी पत्नी ने कहा - "मैं भी बिल्कुल नानी मां के तरीके से बनाती हूं, मेरी तो ऐसी तारीफ नहीं करते।" मैंने कबूली उसकी तरफ खिसका दी। उसने कबूली चखी और शिकायत के लहजे में अपनी नानी से कहा, "नानी मां आप ने पूरी चीज हमें सिखाई नहीं। कुछ छिपा गए। आप कुछ तो ऐसा डालती हैं जिससे आपके बनाए का स्वाद ही अलग होता है।"

सामने बैठी नानी मां ने निर्विकार भाव से कहा, "मैं जीव घालूं बेटा।" ♦

